Knowledge of Self

आत्मस्वरूपज्ञान

Document Information

Text title : AtmasvarUpa from Maheshvaratantra

File name : AtmasvarUpamAheshvaratantra.itx

Category : misc

Location : doc_z_misc_general

Transliterated by : Yogesh K Sharma yosharma at gmail.com

Proofread by : Yogesh K Sharma yosharma at gmail.com

Translated by : Sudhakar Malaviya

Description/comments : Maheshwara Tantra Jnanakhanda prathama paTalaM Verses 22-47

Latest update : May 27, 2019

Send corrections to : sanskrit at cheerful dot c om

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

Please note that proofreading is done using Devanagari version and other language/scripts are generated using **sanscript**.

December 22, 2023

sanskritdocuments.org

आत्मस्वरूपज्ञान

माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे आत्मस्वरूपज्ञान
आत्मा का स्वरूप

ज्ञानं तत्तु विजानीयात् येनात्मा भासते स्फुटः ।
अज्ञानेनावृतो नित्यं मोहरूपेण बित्यदा ॥

तावत्संसारभावः स्याद्यावदज्ञानमुल्लसेत् ।
तावन्मोहो भ्रमस्तावत्तावदेव भयं भवेत् ॥ १॥

वस्तुतः वही ज्ञान (और विज्ञान) है जिससे आत्मा का साक्षात्कार हो जाय । वह स्फुट रूप से भासित होने लगे । वह आत्मा नित्य मोहरूप अज्ञान से आवृत होती है । वस्तुतः तभी तक संसार का भाव साधकमें होता है जब तक उसकी आत्मा अज्ञान से आवृत रहती है और तभी तक मोह एवं भ्रम तथा तभी तक भय भी रहता है ॥ १ ॥

अहं ममेत्यसद्भावो विस्मृतिर्दुःखदर्शनम् ।
नानाधर्मानुरागश्च कर्मणां च फलेषणा ॥ २॥

"यह मेरा है" "यह मैं हूँ" - इस प्रकार अहंत्व बुद्धि का न होना या उसकी विस्मृति अत्यन्त कठिन है । नाना प्रकारके धर्मों और कार्योंमें अनुराग तथा फलकी इच्छा का त्याग अत्यन्त कठिन है ॥ २ ॥

बन्धमोक्षविभागश्च जडदेहाद्यहंकृतिः ।
तावदीश्वरभावः स्यात्पाषाणप्रतिमादिषु ॥ ३॥

बन्धन और विमुक्त (आत्मा) का विभाग तथा जड़ देहमें अहंत्व बुद्धि न होने पर ही पाषाणकी प्रतिमा आदिमें ईश्वर भावकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

जलादौ तीर्थभावश्च यावदज्ञानमुल्लसेत् ।
उदिते तु परिज्ञाने नाऽयं लोको न कल्पना ॥ ४॥

जब तक अज्ञान होता है तभी तक जल आदिमें तीर्थकी भावना होती है । किन्तु जभी तत्त्वज्ञान का उदय साधकमें हो जाता है तभी न यह लोक होता है और न तो किसी प्रकारकी कल्पना ही उसमें होती है ॥ ४ ॥

न त्वं नाहं न वै किञ्चिन्निवृत्ते मोहविभ्रमे ।
स्वयमेवात्मनात्मानमात्मन्यात्माभिपद्यते ॥ ५॥

मोह रूप विशिष्ट भ्रमके दूर हो जाने पर साधकके लिए न तुम हो न मैं हूँ । वह तो स्वयं ही अपने द्वारा अपनेमें ही समाहित हो जाता है ॥ ५ ॥

तदा सुखसमुद्रस्य स्वरूपनिरतो भवेत् ।
लयश्चात्यन्तिको देवि कदाचिद्वा भविष्यति ॥ ६॥

उस समय वह साधक सुखके साक्षात् समुद्रमें रहता है । हे देवि ! उस सुख समुद्र का आत्यन्तिक लय शायद ही कभी होगा ॥ ६ ॥

तदेवात्माक्षरः साक्षादेक एवावशिष्यते ।
स शिवो विष्णुरेवेन्द्रः स एवामरदानवाः ॥ ७॥

वह आत्मा ही साक्षात् अक्षर ब्रह्म है । वही एक शेष रहती है । वही शिव, विष्णु और इन्द्र भी है । वही देव और दानव भी है ॥ ७ ॥

स एव यक्षरक्षांसि सिद्धचारणकिन्नराः ॥

सनकाद्याश्च मुनयो ब्रह्मपुत्राश्च मानसाः ॥ ८॥

वही यक्ष और राक्षस, सिद्ध चारण या किन्नर (मनुष्य और देवोंके बीचकी योनि विशेष) भी है । वही (आत्मा) सनकादि ऋषि है और ब्रह्माके (नारदादि) मानस पुत्र भी वही है ॥ ८ ॥

पशवः पक्षिणश्चैव पर्वतास्तृणवीरुधः ।
स एवेदं जगत्सर्वं स्थूलसूक्ष्ममयं च यत् ॥ ९॥

पशु-पक्षी, पर्वत, तृणादिक लता, पल्लव आदि भी वह (आत्मारूप ब्रह्म) ही हैं । वही यह सम्पूर्ण दृश्यमान स्थूल या सूक्ष्म जगत् भी हैं ॥ ९ ॥

अज्ञानाद्रजतं भाति शुक्तिकायां यथा प्रिये ।
ज्ञानात्तद्रजतं देवि तस्यामेव विलीयते ॥ १०॥

तथाक्षरे परे ब्रह्मण्याभाति सकलं जगत् ।

मोहने केनचिद्देवि मोहनाशे तु शाङ्करि ॥ ११॥

हे प्रिये ! जैसे अज्ञानके कारण सीपीमें चांदी का भान होता है और हे देवि ! उसी रजत का ज्ञान होने पर उसीमें उसका विलय (भी) हो जाता है । उसी प्रकार अक्षर रूप परब्रह्ममें सम्पूर्ण जगत् का भान होता है । अतः हे देवि ! मोह का कारण जगत् है और मोह रूप अज्ञानके विनष्ट होने पर हे शाङ्करि ! वह जगत् भी विलीन हो जाता है ॥ १० - ११ ॥

अवशिष्यते परं ब्रह्म साक्षादक्षरमव्ययम् ।
न त्वं नाहं तदा विष्णुर्लक्ष्मीर्ब्रह्मासरस्वती ॥ १२॥

साक्षात् अक्षर रूप परब्रह्म अव्यय ही अवशिष्ट रहता है । न "तुम" और न "मैं" रहता हूँ । वस्तुतः उस (तत्त्व ज्ञानके) समय विष्णु और लक्ष्मी तथा ब्रह्मा एवं सरस्वती भी नहीं होते हैं ॥ १२ ॥

नेश्वरो न शिवश्चापि यथापूर्वं भविष्यति ।
मृदुद्भवानि कार्याणि मृच्छेशाणि यथाप्रिये ॥ १३॥

उस समय साधकके लिए न तो ईश्वर होते हैं और न ही शिव जैसे पहले हुए थे । वस्तुतः यह जगत् उसी प्रकार है जैसे हे प्रिये ! मिट्टीके (बने घट आदि) कार्यों का अन्ततः शेष मिट्टी ही होता है ॥ १३ ॥

तथैवाखिललोकोऽयं ब्रह्मभूतो भविष्यति ।
यथा वायुवशाद्देवि समुद्रे तरलोर्मय ।
प्रादुर्भवन्ति देवेशि तस्मिन् शान्ते तु पूर्ववत् ॥ १४॥

उस साधक का यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्ममय होगा । जैसे वायुके कारण, हे देवि, समुद्रमें तरल उर्मियाँ (लहरें) प्रादुर्भूत होती हैं । हे देवेशि ! वही समुद्र शान्त होकर पूर्ववत् हो जाता है ॥ १४ ॥

तथा विस्मारितज्ञानान्मोहाद्भ्रान्तं चराचरम् ।
चतुर्विंशतितत्त्वोत्थं सत्यमित्येव रूपितम् ॥ १५॥

इस प्रकार ज्ञानके पुनः विस्मृत हो जाने से मोहके कारण समस्त चराचर जगत् (अहंकार आदि) चौबीस तत्त्वों से प्रादुर्भूत हो (जाता है जो) सत्यके समान ही लगता है ॥ १५ ॥

तत्र जाता इमे लोकाश्चतुर्दश महेश्वरि ।

अधः सप्त तथा चोर्ध्वमेवं संख्याश्चतुर्दश ॥ १६॥

हे महेश्वरि ! उसमें ये चौदह लोक प्रादुर्भूत होते हैं । जो सात नीचे और सात ऊपरके क्रम से संख्यामें चौदह हैं ॥ १६ ॥

अतलं वितलं चैवं सुतलं च तलातलम् ।
रसातलं च पातालं भूर्भुवः स्वस्तथोपरि ॥ १७॥

महर्जनस्तप इति सत्यं वैकुण्ठ इत्यपि ।
शिवलोको देवलोकस्तथाऽवान्तर्गता अपि ॥ १८॥

नीचे १. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. तलातल, ५. महातल, ६. रसातल, एवं ७, पाताल - ये सात लोक हैं और ऊपर १. भूः, २. भुवः, ३. स्वः, ४. महः, ५. जनः, ६. तपः, और ७. सत्य- ये सात लोक हैं, तथा (इससे अतिरिक्त) वैकुण्ठ भी है । उसी वैकुण्ठ लोकके अन्तर्गत शिवलोक और देवलोक भी हैं ॥ १७ - १८ ॥

मोहशान्तौ भविष्यन्ति सर्वे ब्रह्ममया इमे ।
यावत्सर्पमयी भ्रान्ती रज्जौ तावद्भयं प्रिये ॥ १९॥

मोह रूप अज्ञानके नष्ट हो जाने पर ये सभी ब्रह्ममय होंगे । हे प्रिये ! वस्तुतः (मृत्यु से) भय तभी तक रहता है जब तक कि रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति (सन्देह) हो रही हो ॥ १९ ॥

रज्जुत्त्वेन तु विज्ञाता भयं नोद्वहते पुनः ।
अप्रपञ्चे प्रपञ्चोऽयं मोहादुन्मीलति स्फुटः ॥ २०॥

रस्सी का ज्ञान होते ही पुनः यह भय नहीं होता । मोहके उन्मीलित होते ही यह ज्ञान स्पष्टत: होता है कि अप्रपञ्चमें यह सम्पूर्ण सृष्टि का प्रपञ्च है ॥ २० ॥

तावद्भयप्रदोऽज्ञानं यावन्मोहं न विन्दते ।
द्विधा त्रिधा पञ्चधा च चतुर्विंशतिधा पुनः ॥ २१॥

एकधा च पुनस्त्रेधा बहुधा च पुनः स्वयम् ।
विस्तीर्णः स तु मोहोऽयं आवृत्य परमेश्वरम् ॥ २२॥

जब तक मोह नहीं हटता तभी तक अज्ञान भयप्रद होता है । दो, तीन और पाँच-पाँच करके अथवा चौबीस करके, पुन: एक और फिर

तीन और बार-बार फिर वही यह मोह है जो स्वयमेव परमेश्वर को आवृत करके विस्तृत हो जाता है ॥ २१ - २२ ॥

कालमायांशयोगेन ब्रह्माण्डमसृजत्प्रभुः ।
कोटिब्रह्माण्डलक्षाणां स निर्माताक्षरो विभुः ॥ २३॥

काल और मायाके अंशके योग से प्रभु ने इस ब्रह्माण्डकी रचना की । वह विभु करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माता अक्षर ब्रह्म (आत्मा) है ॥ २३ ॥

न तस्येच्छा न कर्त्तव्या निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
तथापि बालवत् क्रीडन् कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥ २४॥

उसे कोई इच्छा नहीं होती, उसके कोई कर्तव्य नहीं होते, वह निर्गुण और प्रकृति से परे है । फिर भी वह बालकके समान खेलता हुआ करोड़ों ब्रह्माण्डकी संहतियों (समूहों) को रचता रहता है और उन ब्रह्माण्डों का संहार किया करता है ॥ २४ ॥

सृजते संहरत्येषः कटाक्षाक्षेपमात्रतः ।
चिन्मात्रः परमः शुद्धः कूटस्थः पुरुषः परः ॥ २५॥

चिन्मात्र, परम, शुद्ध कूटस्थ यह परम पुरुष अपने कटाक्षके आक्षेप मात्र से ही ब्रह्माण्डों का सृजन और संहार किया करता है ॥ २५ ॥

इति श्रीनारदपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे
आत्मस्वरूपं सम्पूर्णम् ।

Verses 22-47 from Maheshvaratantra Jnanakhanda prathama paTalaM

Encoded and proofread by Yogesh K Sharma yosharma at gmail.com

Knowledge of Self

pdf was typeset on December 22, 2023

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*